सरकारी स्कूल प्रणाली[1] के साथ हमारे अनुभव

आनन्द स्वामीनाथन

प्रचलित धारणा

आमतौर पर सरकारी स्कूलों[2] को औसत दर्जे का और असफल माना जाता है। यह माना जाता है कि उनका बुनियादी ढाँचा अपर्याप्त और उपेक्षित होता है। शिक्षक स्कूल में आते ही नहीं हैं; अगर आते हैं तो पढ़ाते नहीं; और अगर पढ़ाते हैं तो बच्चे सीखते नहीं। अधिकांश सरकारी स्कूलों के बच्चे कई साल तक स्कूल में पढ़ने के बावजूद न तो पढ़–लिख सकते हैं और न ही बुनियादी गणित जानते हैं। केवल बहुत गरीब लोग ही अपने बच्चों को स्थानीय सरकारी स्कूलों में भेजते हैं; लेकिन अगर उनके पास कोई विकल्प होता तो वे निजी स्कूलों को ही चुनते जो बेहतर होते हैं। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सुधार की कोई उम्मीद नहीं।

मुख्यधारा की मीडिया और नागरिक समाज के अनेक नव–उदारवादी लोग इस विचार को और हवा देते हैं। ये विचार इतने प्रबल हो गए हैं कि अगर इनके विपरीत कोई अनुभव या सबूत मिलें भी तो उन्हें कोई नहीं सुनता। इस लेख में इस बात की जाँच की गई है कि इस घिसे–पिटे दृष्टिकोण में कितनी सच्चाई है और कितना मिथक है।

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन 2001 से अति ग्रामीण, दूरस्थ और पिछड़े जिलों में सरकारी स्कूल प्रणाली के साथ कार्य कर रहा है। प्रतिदिन हमारी टीम ऐसे स्कूलों में जाती है जहाँ कोई संचार व्यवस्था नहीं है, जो राजस्थान के रेगिस्तानों, उत्तराखण्ड के पहाड़ों, मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्रों और देश के कई ऐसे ही भागों में स्थित हैं।

हजारों शिक्षकों और अन्य लोगों के साथ साल दर साल के इस सतत जुड़ाव ने हमें सरकारी स्कूल प्रणाली के तरीकों और अभिप्रेरणाओं के बारे में गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है। ये अनुभव प्रचलित तुच्छ बताने वाली धारणाओं से अलग हैं और इनके बारे में बताना आवश्यक है।

चीजों को परिप्रेक्ष्य में रखना

पिछले तीन दशकों में भारत ने हर गाँव में स्कूल खोलने की भरसक कोशिश की है। आज सरकारी प्राथमिक स्कूल और आँगनवाड़ी केन्द्र (प्री–स्कूल) भारत में सार्वजनिक प्रणाली के सर्वव्यापी प्रतीक हैं। आप देश में कहीं भी, किसी भी गाँव में चले जाइए, भले ही वह गाँव अति दूरस्थ हो या दुर्गम, लेकिन इस बात की पूरी सम्भावना होगी कि आपको वहाँ सरकारी स्कूल देखने को मिले। हमारे इस व्यापक देश में जहाँ की भौगोलिक स्थितियाँ अत्यन्त जटिल हैं, यह एक महान उपलब्धि है।

हमारे देश में करीब 11 लाख प्राथमिक स्कूल हैं और पूरी दुनिया में इतनी बड़ी सरकारी स्कूल प्रणाली और कहीं नहीं है।[3] इन स्कूलों में लिंग, जाति या धर्म पर ध्यान दिए बिना नामांकन करीब–करीब सार्वभौमिक है। अगर 30 साल पहले की स्थिति पर नजर डालें तो उन दिनों आज की तुलना में केवल आधी संख्या में ही लड़कियाँ स्कूल जाती थीं, इसलिए आज की स्थिति अत्यन्त उल्लेखनीय है। यह सब संयोग से नहीं हुआ, बल्कि यह तो एक व्यवस्थित प्रयास का नतीजा है जिसमें इस बात को सुनिश्चित किया गया कि देश का

---

[1]"सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली" शब्द के लिए व्यापक व्याख्या और आलोचना की सम्भावनाएँ हैं। उदाहरण के लिए : क्या इस शब्द का प्रयोग केवल सरकार द्वारा चलाए जाने वाले स्कूलों के लिए करना चाहिए, या इसमें वे स्कूल भी शामिल किए जा सकते हैं जो सरकार द्वारा चलाए तो नहीं जाते लेकिन उनके द्वारा विनियमित हैं? जिस प्रणाली को नागरिकों के एक बड़े वर्ग के द्वारा त्याग दिया गया है, क्या उसे वाकई सार्वजनिक कहा जा सकता है? चूँकि इस लेख में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा सरकारी स्कूलों के साथ कार्य करने के अनुभवों के बारे में विशेष रूप से बताया गया है इसलिए मैं और अधिक विशिष्ट शब्द 'सरकारी स्कूल प्रणाली' का प्रयोग कर रहा हूँ।

[2]सरकारी स्कूलों से मेरा आशय राज्य द्वारा संचालित उन स्कूलों से है जो प्रणाली के एक बड़े हिस्से का निर्माण करते हैं। इनमें वे सरकारी स्कूल शामिल नहीं हैं जो विशेष योजनाओं के तहत अलग प्रबन्धन आदि के द्वारा चलाए जाते हैं। उदाहरण के लिए केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय, सेना स्कूल, सहायता प्राप्त स्कूल आदि।

[3]एक और तुलना प्रस्तुत करने के लिए यह कह सकते हैं कि भारत में 1.5 लाख डाक–घर हैं।

हर बच्चा स्कूल में हो – वह कौन है या कहाँ रहता है – इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।[4] सरकारी तन्त्र के बारे में सोचते समय इस परिप्रेक्ष्य को (इसके विशाल पैमाने और जटिलता को तथा इसकी उल्लेखनीय प्रगति को) ध्यान में रखना जरूरी है क्योंकि ये एक स्वस्थ और विकासशील प्रणाली के द्योतक हैं।

सरकारी स्कूल कार्य करते हैं

कुल मिलाकर, अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हम सभी ने पिछले एक दशक से भी अधिक समय में हजारों सरकारी स्कूलों का दौरा किया है। ये दौरे न तो संक्षिप्त हैं और न ही एक बार के लिए हैं। इसके अलावा, हमारे काम करने का ढाँचा ही ऐसा है कि हम अविकसित जिलों में कार्य करते हैं, तो स्कूल जितना ही सुदूर होगा उतनी ही हमारे वहाँ होने सम्भावना भी अधिक होगी।

हमने तो वहाँ अक्सर यही देखा है कि शिक्षक और विद्यार्थी स्कूल आते हैं और शिक्षण–अधिगम के प्रयास भी बड़ी ईमानदारी के साथ किए जाते हैं। जो लोग सरकारी और निजी स्कूलों से सम्बन्धित उग्र विवादों से परिचित नहीं हैं उन्हें लग सकता है कि इसमें कौन–सी बड़ी बात है, यह तो एक बुनियादी बात है क्योंकि स्कूल से यही उम्मीद तो की जाती है! लेकिन जो इस बात का विश्वास नहीं करना चाहते उनके लिए तो यह किसी निन्दा से कम नहीं।[5]

इसके अलावा, स्कूलों में आमतौर पर पर्याप्त कक्षाएँ, पेयजल, लड़के–लड़कियों के लिए शौचालय और भली प्रकार से प्रबन्धित मध्याह्न भोजन (जो कई विद्यार्थियों के लिए दिन का सबसे महत्त्वपूर्ण भोजन है) की व्यवस्था है।[6,7]

सरकार दिन–प्रतिदिन ये सारे कार्य 11 लाख विभिन्न स्थानों में सफलतापूर्वक कर रही है जो एक ऐसी प्रशासनिक उपलब्धि है जिसका अध्ययन होना चाहिए।

तो फिर विद्यार्थी सीख क्यों नहीं रहे हैं?

स्कूल–शिक्षा की पहेली यह है कि शिक्षण के लिए ईमानदारी के साथ प्रयत्न करने और कई सालों तक स्कूल में रहने के बावजूद भी विद्यार्थी अधिगम के लिए जूझते नजर आते हैं। औसतन, विद्यार्थी प्रत्येक कक्षा में अपेक्षित शैक्षिक अवधारणाओं का केवल 40–50% ही सीखते हैं।[8]

इस बारे में एक तर्क शिक्षकों से सम्बन्ध रखता है। वह इस प्रकार है, 'शिक्षण का पेशा अपनी इच्छा से चुना जाने वाला या अच्छा वेतन दिलाने वाला पेशा नहीं है और इसे वही लोग चुनते हैं जिनके पास आजीविका का कोई और विकल्प नहीं होता। ऐसे शिक्षकों से आप और क्या उम्मीद कर सकते हैं?'

वास्तव में इस तर्क का कोई आधार नहीं है। क्योंकि एक, कई लोग सरकारी स्कूल का शिक्षक बनने की आकांक्षा रखते हैं; देश के कई कस्बों और गाँवों में सरकारी शिक्षक की नौकरी में अन्य विकल्पों की तुलना में बेहतर वेतन मिलता है और सेवा की शर्तें भी अच्छी होती हैं।[9] दो, अच्छा शिक्षक होना कुछ ही लोगों का निजी अधिकार नहीं है। ज्यादातर लोग उचित शिक्षा और अभ्यास के द्वारा सक्षम शिक्षक बन सकते हैं।

कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विद्यार्थियों की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि और उनके शिक्षार्जन के बीच मजबूत सम्बन्ध है। वे यह भी कहते हैं कि वंचित

---

[4]ऐसे लोग भी हैं जो यह तर्क देते हैं कि इस विशाल विस्तारण के कारण भलाई से अधिक बुरा ही हुआ है। हमारे पास अन्ततः बहुत छोटे स्कूलों का एक बड़ा भाग है (<20–30 बच्चे और 1–2 शिक्षक) जो शैक्षिक, आर्थिक और प्रशासनिक रूप से अव्यावहारिक हैं। हालाँकि यह ज्ञान काफी हद तक पूर्वव्यापी है।

[5]सरकारी स्कूलों और शिक्षकों की निन्दा करना तो आजकल का फैशन है। कुछ आलोचनाओं का निश्चित आधार है, जिसके बारे में हम आगे पता लगाएँगे। लेकिन हर बात को एक असफल प्रणाली के तहत रखना किसी काल्पनिक कहानी से कम नहीं। इस बात से कोई मदद नहीं मिलती कि सरकारी स्कूलों के ये निन्दक निजी स्कूलों के माने हुए प्रशंसक हैं। लेकिन इस बारे में बाद में बात करेंगे।

[6]इसका मतलब यह नहीं कि सभी सरकारी स्कूलों में पर्याप्त कक्षा–कक्ष आदि हैं। अपर्याप्त बुनियादी सुविधाओं वाले स्कूलों का कम किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रतिशत है हालाँकि यह सामान्य मानदण्ड नहीं है।

[7]स्कूलों के पास रखरखाव के लिए अपर्याप्त बजट होता है। यानी यह एक सामान्य बात है कि सरकारी स्कूलों की सुविधाओं की हालत खस्ता हो जैसे कक्षाओं में पुताई की जरूरत होती है, शौचालयों में पाइपलाइन की समस्याओं का होना या खुले स्थानों में घास–फूस का होना।

[8]यह हमारे आन्तरिक आकलन पर आधारित है। वैसे विद्यार्थी–अधिगम के बारे में विभिन्न अध्ययनों द्वारा कई बार व्यापक संकेत दिए गए हैं जिनके बारे काफी हद तक आम सहमति है।

[9]कई राज्य सरकारों ने बड़ी संख्या में 'पैरा शिक्षकों' की नियुक्ति करने की अदूरदर्शिता दिखाई। इन पैरा शिक्षकों में अपेक्षित शैक्षिक योग्यता नहीं होती थी और इन्हें नियमित शिक्षकों से बहुत कम वेतनमान पर अल्प अवधि के लिए अनुबन्ध पर काम पर रखा जाता था। इस कारण देश में अध्यापन के पेशे का गम्भीर रूप से अवमूल्यन हुआ। शुक्र है कि अब आर.टी.ई. 2009 के लागू होने के बाद यह प्रथा अवैध हो गई है।

घरों के बच्चों का अधिगम स्तर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के बच्चों से कम होता है। चूँकि सरकारी स्कूलों में अधिकांश बच्चे गरीब घरों से आते हैं इसलिए उनका अधिगम स्तर कम होता है। इसलिए गरीबी को कम करना ही 'अपर्याप्त अधिगम' का एकमात्र समाधान है।

इस तर्क में तीन बातें छूट गई हैं। एक, नैतिकता की दृष्टि से यह विचार एकदम व्यर्थ है कि किसी बच्चे का अधिगम इस बात से निर्धारित होता है कि उसने किस परिवार में जन्म लिया है। जो राष्ट्र लोकतंत्र का आकांक्षी है, वहाँ ऐसा तर्क गम्भीर रूप से नुकसानदेह होता है कि किसी की योग्यताएँ और विकल्प उसके जन्म के द्वारा निर्धारित हों।

दो, नए सबूत यह बताते हैं कि विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के बच्चों के अधिगम स्तर के बेहतर होने का कारण यह है कि उन्हें घर पर अधिक शैक्षिक अनुभव मिलते हैं। उदाहरण के लिए किसी शहरी मध्यम वर्गीय परिवार के बच्चे को बाल–साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकों के उपयोग का ज्यादा मौका मिलता है; और इस बात की सम्भावना भी कम होती है कि उसे परिवार की आजीविका में सहायता के लिए काम करना पड़ता हो। लेकिन हाँ, सकारात्मक कार्य इन अन्तरों को कुछ कम कर सकते हैं–जैसे कि सरकारी स्कूल में एक अच्छे पुस्तकालय का होना या बच्चों को छात्रवृत्ति देकर गरीब परिवारों की मदद करना।

तीन, इस विचार में शैक्षिक वैधता नहीं है। कोई भी अच्छा शिक्षक आपको यह बता देगा कि अगर शिक्षण अच्छा हो तो कोई भी बच्चा प्राथमिक पाठ्यक्रम में महारत हासिल कर सकता है।

शिक्षक और गलत अध्यापन परिकल्पना

शिक्षण एक जटिल पेशा है। इसमें अपने विषय की अवधारणाओं को गहन रूप से समझना जरूरी है। हम देखते हैं शिक्षक पाठ्यपुस्तक का अच्छा ज्ञान रखते हैं लेकिन उतना ही काफी नहीं है। उदाहरण के लिए इतिहास के शिक्षक के लिए यह समझना जरूरी है कि इतिहास क्या है, ऐतिहासिक ज्ञान का निर्माण कैसे होता है, दुनिया का व्यापक ऐतिहासिक परिदृश्य क्या है आदि। दुर्भाग्य से हमारी स्कूली और उच्च शिक्षा प्रणाली विषयों में गहन अवधारणात्मक क्षमता के निर्माण में सहायता नहीं करती।

शिक्षण में कक्षा के हर विद्यार्थी के बारे में अन्तर्दृष्टि का होना भी जरूरी है। यह आसान नहीं है। क्योंकि सम्भव है कि शिक्षक विद्यार्थी की पारिवारिक स्थिति से परिचित न हों। अधिकांश शिक्षक सामान्य जाति की श्रेणियों और मध्यम वर्ग के होते हैं। सरकारी स्कूल के विद्यार्थी गरीब परिवारों के होते हैं और उनके अनुसूचित जाति और जनजाति और अन्य पिछड़ी जातियों के होने की सम्भावना अधिक है।

शिक्षण का मार्गदर्शन लोकतांत्रिक समाज में स्कूल की व्यापक भूमिका की समझ के द्वारा किया जाना चाहिए। साथ ही यह समझना भी जरूरी है कि किसी विषय विशेष के सन्दर्भ में बच्चा अर्थ निर्माण कैसे करता है।

सरकारी स्कूल की कक्षा एक जटिल रंगमंच जैसी है। यहाँ विभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि के बच्चे होते हैं। विद्यार्थी अधिगम के विभिन्न चरणों में होते हैं और अधिगम की प्रक्रिया में अलग–अलग क्षमताएँ और प्रवृत्तियाँ लेकर आते हैं। यह जटिलता तब और भी बढ़ जाती है जब विभिन्न कक्षा के विद्यार्थियों को एक ही कक्षा में साथ–साथ बैठा दिया जाता है। सबसे बड़ी जटिलता तब पेश आती है जब बच्चे अलग–अलग भाषायी पृष्ठभूमि से आते हैं और ये भाषाएँ न तो उनके शिक्षकों की होती हैं और न ही उनके स्कूल की।

शिक्षक को विषय के बारे में अपनी और शिक्षार्थी की समझ को जोड़कर, उसे सार्वजनिक शिक्षा के व्यापक उद्देश्य में रखकर और फिर इन सबको कक्षा की विविधता के साथ अनुकूलित करना पड़ता है। जब शिक्षक अपनी सभी क्षमताओं को एक साथ समेटकर विद्यार्थियों का शिक्षण करते हैं तो यही अध्यापन या शिक्षाशास्त्र है।

हमारी गलत अध्यापन परिकल्पना यह है : अधिकांश शिक्षक इस तरह से पढ़ाना ही नहीं जानते जिससे बच्चे सीख पाएँ। (यहाँ स्पष्टीकरण यह है कि यह शिक्षकों पर टिप्पणी नहीं है, बल्कि यह तो भारत में शिक्षक–शिक्षा की दयनीय स्थिति का प्रतिबिम्ब है।)[10]

[10]आज की सबसे बड़ी जरूरत यह है कि अपनी निराशाजनक शिक्षक–शिक्षा प्रणाली के अक्षम (और अक्सर झूठे) कॉलेजों को खत्म कर दें और बुनियादी रूप से नई प्रणाली को स्थापित करें। आशा है कि राष्ट्रीय शिक्षक एवं शिक्षण मिशन इस क्षेत्र में सकारात्मक परिवर्तन लाएगा।

कई नए शिक्षक आरम्भ में बड़ी ईमानदारी के साथ कार्य शुरू करते हैं और कार्य को सुचारु रूप से करने के लिए अक्सर असाधारण और ईमानदार कोशिशें भी करते हैं। लेकिन चूँकि उन्हें अपने पेशे के लिए भली प्रकार से तैयार नहीं किया जाता है और न ही उन्हें नौकरी के दौरान कोई सहायता मिलती है इसलिए वे हार मान लेते हैं। कुछ महीनों या सालों की कोशिशों के बाद अधिकांश शिक्षक ऐसे शैक्षणिक तरीकों को अपना लेते हैं जो अधिक प्रभावकारी नहीं होते और जो लेक्चर देने, रटने, बार–बार दोहराने और छड़ी पर आधारित होते हैं।

पिछले कुछ पैराग्राफ में निराशाजनक चित्र देखने को मिलता है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है, अभी भी निराशाओं से ज्यादा आशाएँ हैं। हमारा अनुभव तो यह कहता है कि बड़ी संख्या में शिक्षक और अन्य लोग वाकई इस मुद्दे को लेकर चिन्तित हैं। अगर उन्हें सही मदद मिले तो वे अपनी पेशेवर क्षमताओं के पुनर्निर्माण के लिए बड़ी संख्या में आगे आते हैं।

हम विभिन्न जिलों में तकरीबन 25% सरकारी शिक्षकों और प्रधानाध्यापकों के साथ कार्य करते हैं और वे अपने विकास के लिए आयोजित कार्यक्रमों में स्वेच्छा से अपना निजी समय (स्कूल के बाद, सप्ताह के अन्त में और छुट्टियों वाले दिन) देने के लिए तैयार रहते हैं। हममें से कितने ऐसे लोग हैं जो महीने दर महीने अपनी छुट्टियों को सिर्फ इसलिए त्यागने के लिए तैयार होंगे ताकि हम अपने कार्य को बेहतर रूप से कर सकें? लेकिन ये शिक्षक ऐसा करते हैं और वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि उन्हें अपने पेशे की परवाह है और वे अपने विद्यार्थियों की चिन्ता करते हैं।

निजी स्कूलों का तेजी से विकास

हमारे देश को एक मजबूत सरकारी स्कूल प्रणाली की जरूरत है। एक स्वस्थ लोकतंत्र को ऐसी स्कूल प्रणाली की जरूरत है जो उसके आदर्शों के लिए सक्रिय रूप से कार्य करे, जो विद्यार्थियों को लोकतांत्रिक मूल्यों और तर्कसंगत विचारों से अवगत कराए। और मैं ऐसी किसी और रचना की कल्पना नहीं कर सकता जो यह कार्य उतने बड़े पैमाने पर भली प्रकार से कर सके जितने की माँग हमारे देश में है।

निजी स्कूलों की जैसी प्रकृति है उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकते। निजी उद्यम संचालित स्कूलों का झुकाव[11] स्वाभाविक रूप से उन समुदायों की तत्काल आकांक्षाओं को पूरा करना होता है जिनकी सेवा वे करते हैं। लाभ कमाने (व्यवहार में तो ऐसा है, भले ही कागज पर न हो) के लिए तेजी से बढ़ते हुए ये निजी स्कूल पूरे देश में छा गए हैं और इनकी फीस प्रति माह सौ रुपए से लेकर एक लाख रुपए तक है।

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि निजी स्कूल सामाजिक और आर्थिक रूप से समान समूह की सेवा करते हैं और इससे सामाजिक स्तरीकरण को बढ़ावा मिलता है। ऐसा करके हम अपने समाज के मन में असमानता की भावना पैदा कर रहे हैं। इसलिए, हालाँकि निजी स्कूलों के साथ मेरी कोई लड़ाई नहीं है और मैं कुछ अत्युत्तम निजी स्कूलों के बारे में जानता भी हूँ, कुल मिलाकर, निजी स्कूल प्रणाली लोकतंत्र में स्कूल प्रणाली के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपर्याप्त है।

अब अगर निजी स्कूल विद्यार्थियों के एक छोटे से भाग के लिए कार्य करते हैं तो शायद यह चिन्ता का मुख्य कारण नहीं है। लेकिन भारत में ऐसा नहीं है। शहरों के 67% बच्चे निजी स्कूलों में जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यह संख्या घटकर 23% हो जाती है, लेकिन जिस तरह की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है उससे तो लगता है कि वहाँ भी तेजी से बदलाव हो रहा है। हो सकता है कि अगले दशक तक पूरे देश में निजी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या सरकारी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या से अधिक हो जाए।

भारत में निजीकरण के समर्थन का बहुत प्रचार है जिसके अनुसार निजीकरण एक अच्छी बात है, सिर्फ इसलिए कि निजी स्कूल बेहतर हैं। लेकिन दुनिया भर से मिलने वाले सबूत स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि निजी स्कूल विद्यार्थी–अधिगम में जितना योगदान देते हैं, सरकारी स्कूलों का योगदान उससे कम नहीं है।[12]

हमने तो यही देखा है कि कई निजी स्कूल जो सरकारी स्कूलों के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं, वे अक्षम शिक्षकों को लगभग उन्हीं शर्तों पर नौकरी पर रख लेते हैं जैसे

[11]कई निजी स्कूल ऐसे भी हैं लाभ–निरपेक्ष हैं और मुख्य रूप से सामाजिक उद्देश्यों के लिए चलाए जा रहे हैं, मैं यहाँ उनकी बात नहीं कर रहा।

[12]भारतीय सन्दर्भ में इन अध्ययनों से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है 'The longitudinal School Choice study in Andhra Pradesh'| मेरे सहयोगी डी.डी. करोपाडी का यह विशेष EPW लेख देखें : http://www.epw.in/special-articles/does-school-choice-help-rural-children-disadvantaged-sections.html

अनुबन्धित श्रमिकों को रखा जाता है और इन स्कूलों का कार्य–व्यापार ठसाठस भरे हुए तथा असुरक्षित परिसर भवन में होता है। भय को एक स्वीकार्य शैक्षणिक साधन माना जाता है और स्कूल प्रणाली को बच्चों के अनुसार अनुकूलित करने के लिए बहुत कम प्रयास किया जाता है। परेशान करने वाली बात यह है कि शायद यही शैक्षिक भविष्य हमारे बच्चों पर हावी हो जाए।

कई लोगों का मानना है कि यह बदलाव उस बड़े सामाजिक बदलाव का हिस्सा है जिसके तहत सेवाओं को सार्वजनिक से निजी द्वारा उपलब्ध कराया जाता है। सार्वजनिक संस्थानों के बारे में बढ़ते अविश्वास के साथ एक उदार बाजार अर्थव्यवस्था के जुड़ जाने से इस बात को और भी शह मिलती है। मुद्दा यह है कि शिक्षा कोई ऐसी सेवा नहीं है जिसका कारोबार किया जा सके, वरन यह तो एक खास तरह की नागरिकता और राष्ट्र के विकास की सामाजिक प्रक्रिया है।

निष्कर्ष

सरकारी स्कूल प्रणाली ने वाकई महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। यह इस विशाल देश के हर कोने में फैल गई है। इसने अत्यधिक वंचित पृष्ठभूमि वाले बच्चों को भी स्कूल में आने के लिए प्रेरित किया है।

यह प्रणाली प्रतिदिन अपना कार्य करती है। शिक्षक और विद्यार्थी स्कूल आते हैं और ईमानदारी के साथ शिक्षण–अधिगम के प्रयास किए जाते हैं।

लेकिन विद्यार्थियों का अधिगम अभी सन्तोषजनक नहीं है और अब हमें यह पता लगाना है कि इस प्रणाली को विद्यार्थियों के हित में कार्य करने योग्य कैसे बनाया जाए। इसके लिए हमें अपने शिक्षकों और स्कूल के नेतृत्वकर्ताओं को अलग ढंग से तैयार करना होगा और उन्हें बेहतर समर्थन देना होगा।

आज भारतीय शिक्षा की सबसे बड़ी चुनौती निजी स्कूलों की बढ़त है, जो इस आधार पर शैक्षिक अवसरों का स्तरीकरण करते हैं कि माता–पिता फीस के लिए कितना खर्चा कर सकते हैं। स्कूल की शिक्षा का तेजी से जो निजीकरण हो रहा है उसे शह देने वाले कई कारणों में से एक है यह गलत धारणा कि ये स्कूल बेहतर हैं। इस धारणा को दूर करने के बारे में हम यही कल्पना कर सकते हैं कि सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में इतना सुधार किया जाए कि वह साफ नजर आए। अब यह तो समय ही बताएगा कि इससे स्थिति बदलेगी या नहीं।

सरकारी स्कूल प्रणाली को वास्तविक रूप से समझने के लिए हमें दशकीय दृष्टिकोण (decadal view) को अपनाना होगा। और उससे हमें पता चलता है कि इस प्रणाली में अवनति की बजाय धीरे–धीरे परिपक्वता आ रही है। सही समर्थन मिले तो इसमें सुधार आ सकता है।

आनन्द स्वामीनाथन अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के क्षेत्रीय कार्यक्रमों के साथ कार्यरत हैं। उनसे anand@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल